हिंसा–अहिंसा का फैलता भ्रम

पिछले कई सौ वर्षो से भारत मे एक वैचारिक जंग जारी है कि हिंसा और अहिंसा मे से कौन सा मार्ग ठीक है। हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थ भी इस संबंध मे कोई स्पष्ट अवधारणा नही दे पाते । आमतौर पर हम समाज मे सर्वे करते है तो पाते है कि समाज के नब्बे प्रतिशत लोग हिंसा के समर्थक है। यह बात स्वतंत्रता के पूर्व भी थी और आज भी है । बल्कि सच्चाई यह है कि स्वतंत्रता के बाद हिंसा के प्रति समाज का विश्वास लगातार बढता ही जा रहा है।

अहिंसा और कायरता बिल्कुल अलग अलग अवधारणाऍ है, किन्तु वर्तमान समय मे कायरता तथा अहिंसा समानार्थी शब्द बनते जा रहे है । अहिंसा शब्द को सर्वाधिक महत्व दिया भगवान महावीर ने तथा गांधी ने। महावीर की अहिंसा की चर्चा हम छोड भी दें तो, गांधी तो अहिंसा शब्द तथा अहिंसक विचारो के प्रतीक ही बन गये है। गांधी को हमेशा डर था कि कहीं भविष्य मे उनकी अहिंसा कायरता का प्रतीक न बन जावे । उन्होने बार बार चेताया था कि कायरता से हिंसा अच्छी होती है और हिंसा से अहिंसा । गांधी ने यह भी कहा कि जो कायर होता है वह अधिक हिंसक हो सकता है क्योकि हिंसा उसके मन मे पलती तो रहती ह, किन्तु अवसर के अभाव मे प्रकट नही होती । गांधी जी जीवन भर अहिंसक रहे, किन्तु कायर नही रहें। इसके ठीक विपरीत गांधी के बाद उनके अनुयायी अहिंसक न होकर कायर हो गये। जय प्रकाश को छोडकर आज तक आपको एक भी उदाहरण सुनने को नही मिलेगा जिसमे किसी गांधीवादी ने किसी अन्याय या अत्याचार का विरोध किया हो। नितान्त स्थानीय स्तर पर भी नही।

गांधीवादी आंदोलन हमेशा ही सुरक्षित मार्ग तलाशते रहे। शहर के नामी गुण्डें के अन्याय अत्याचार के विरूद्ध गवाही देने या आलोचना करने जैसी अहिंसक बहादुरी मे गांधीवादी हमेशा ही सबसे पीछे रहता है, किन्तु शराब का विरोध करने मे आप गांधीवादियो को सबसे आगे पायेगे क्योकि यह आंदोलन पूरी तरह अहिंसक भी होता है और खतरे से रहित भी। विनोबा जैसे संत के नेतृत्व मे गांधीवादियो ने अहिंसक प्रतिरोध के मार्ग से प्रतिरोध शब्द तो बाहर कर दिया और अहिंसक शव्द से चिपट गये। जय प्रकाश आंदोलन के समय भी यदि गांधीवादियो ने विनोबा के विरूद्ध विद्रोह न कर दिया होता तो वे प्रतिरोध का वह इतिहास भी नही बना पाते। जय प्रकाश जी के बाद पुनः विनोबा की ही लाइन चल पडी । यदि कभी बंग जी सिद्धराज जी अमरनाथ भाई सरीखों ने प्रतिरोध की लाइन भी लेनी चाही तो गंगा प्रसाद अग्रवाल सरीखे संन्तो ने प्रतिरोध की इस लाइन को पंचर कर दिया। इनके मन मे जो कायरता का भाव बना रहा उसी का परिणाम इनके द्वारा हमेशा ही अतिवादी हिंसा के समर्थन के रूप मे प्रकट हाता रहा। आप आज भी देख सकते है कि भारत का हर प्रमुख गांधीवादी नक्सलवाद का भी समर्थक मिलेगा और मुस्लिम आतंकवाद का भी। जब भी सरकार ने आतंकवाद के विरूद्ध कोइ कारगर कदम उठाना चाहा त्योंही गांधीवादियो का अहिंसक समूह इन अतिवादी हिंसक समूहो का ढ़ाल बनकर खडा हो गया। मुझे तो आश्चर्य हुआ जब नक्सलवादी आरोपो से जमानत पर छूटे विनायक सेन तथा संसद पर आक्रमण से दोष मुक्त हुए प्रोफेसर गीलानी का सार्वजनिक सम्मान करने मे गांधीवादी ही आगे रहे। ऐसा लगा जैसे ये दोनो महानुभाव किसी अहिंसक प्रतिरोध के प्रतीक रहे हों।

अहिंसा और कायरता की विस्तृत चर्चा के बाद हिंसा और अराजकता के बीच की भी चर्चा करनी आवश्यक हैं । समाज मे जितना घातक अहिंसा का कायरता मे बदलना है, उतना ही घातक हिंसा का अराजकता मे बदलना भी है। भारत मे तीन समूह ‘‘ मुसलमान, साम्यवादी तथा संघ परिवार’’ हिंसा के समर्थक हैं किन्तु तीनो ही कही न कही भारत मे अराजकता के भी पोषक है। तीनो ही आपस मे वर्चस्व के लिये हिंसा का सहारा लेते है तथा अहिंसक लोगो को दबा कर रखना चाहते है । तीनो ही केन्द्रीयकरण अर्थात तानाशाही के पक्षधर है । तीनो ही कमजार स्थिति मे न्याय की मांग करते है और जहॉ मजबूत होते है वहॉ दूसरो को गुलाम बनाकर रखना चाहते है । तीनो ही समाज को सर्वोच्च नही मानते । या तो धर्म को समाज से उपर मानते है या राष्ट को।

समाज जब गुलाम हो तथा व्यवस्था तानाशाह हो तब तो हिंसा का भी औचित्य है और अराजकता का भी , किन्तु लोकतांत्रिक व्यवस्था मे हिंसा या अराजकता का क्या औचित्य है? यदि आप मानते है कि भारत मे लोकतंत्र एक बहाना मात्र है और वास्तव मे तो तानाशाही ही है तो इस अघोषित तानाशाही को अराजकता के मार्ग से आप आदर्श लोकतंत्र की दिशा देना चाहते है या तानाशाही की । तीनो समुदायो मे से किसी के पास कोई उत्तर नही है। यह घातक स्थिति है । अराजकता समाज मे कायरता का विस्तार करती है और कायरता अराजकता का। दोनो एक दूसरे के पूरक है । कायरता हमेशा अहिंसा को ढाल बनाती है और अराजकता हिंसा की आवश्यकता को। जिस तरह गांधीवादी अहिंसा के नाम पर कायरता फैला रहे हैं उसी तरह ये तीनो समूह हिंसा के नाम पर अराजकता फैलाने मे संलग्न हैं।

फिर भी अहिंसक गांधीवादी और हिंसक अराजकतावादी समूहो के बीच एक खास फर्क है कि अहिंसक गांधीवादी सत्ता की छीना झपटी मे संलग्न नही है जबकि हिंसक अराजकता वादी सत्ता संघर्ष मे लिप्त है। साम्यवादी तथा संघ परिवार तो प्रत्यक्ष लिप्त दिखते ही है, किन्तु मुसलमान भी कही न कही उसी लाइन पर चल रहा है । गिने चुने जावेद अख्तर या साजिद रसीद की बात छोड दे तो यह संभव ही नही कि कोई व्यक्ति मुसलमान तो हो किन्तु अपने इस्लामिक संगठन का हित प्राथमिकता के आधार पर न सोचता हो । मुसलमान चाहे जिस भी संगठन मे होगा, किन्तु उसकी प्रतिबद्धता अपने संगठन के विस्तार के प्रति है और समाज या न्याय उसके बाद ही है। जब भारत के कानून मंत्री सलमान खुर्शीद मुसलमान आरक्षण के लिये फांसी पर चढने के लिये भी तैयार है तो आप अन्य किससे उम्मीद कर सकते है? बाटला हाउस एनकाउन्टर मामले मे भी

यह धारणा पुष्ट ही होती है । मेरी तो धारणा यहा तक अतिवादी हो गई है कि किसी मुसलमान का लेख , पत्र, विचार या विज्ञप्ति उसका नाम देखते ही समझ मे आ जाता है कि इन्होने क्या लिखा होगा। टी वी की बहस मे निन्यानबे प्रतिशत पता लग जाता है कि यदि शामिल व्यक्ति मुसलमान है तो वह क्या बोलेगा। यहॉ तक कि कई बार तो विषय की परवाह न करके भी मुसलमान अपनी इस्लामिक प्रतिबद्धता को प्रकट करता रहता है। अतः चाहे प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष किन्तु तीनो अराजक समूहो का मार्ग एक ही है कि संगठन शक्ति के आधार पर सत्ता से लाभ उठाना ।

श्यही कारण है कि भारत की नब्बे प्रतिशत आबादी भले ही सामान्यतया हिंसा की पक्षधर हो किन्तु भारत मे सिर्फ वही आंदोलन सफल हो सकता है जिसका नेतृत्व किसी अहिंसक गांधीवादी के हाथो मे हो । भारत गांधी, जयप्रकाश, अन्ना सरीखे अहिंसक के नेतृत्व मे ही व्यवस्था परिवर्तन की लडाई लड सकता है, हिंसा और अराजक शब्द उसे पसंद नही।

ऐसी विकट स्थिति मे मार्ग क्या है जब अहिंसा कायरता की दिशा मे ले जाती हो तथा हिंसा अराजकता की दिशा मे । सैकडो वर्षो से चल रही इस बहस को कहीं ठीक जगह तो देनी ही होगी कि समाज इस बीच क्या करे? मै जानता हूॅ कि अहिंसा और हिंसा के बीच का मार्ग खोजना आसान नही किन्तु कार्य कठिन कहकर किसी समस्या से पिण्ड छुडाना भी तो कायरता ही मानी जायगी। कल्पना करिये कि ठीक समाधान नही निकल सकेगा तब भी समाधान की दिशा मे एक सार्थक बहस तो छिडेगी ही । इसी को उपलब्धि मानकर मैने इस विषय पर कुछ लिखने की हिम्मत की है।

(1) हमे पहला काम तो यह करना होगा कि समाज सर्वोच्च की अवधारणा को विकसित करना होगा। वर्तमान मे राष्ट या धर्म सर्वोच्च की घातक अवधारणा बहुत ज्यादा नुकसान कर रही है। ये दोनो ही अवधारणाएँ समाज मे हिंसा की आवश्यकता महसूस कराती है। आवश्यकता यह है कि हम इस अवधारणा को हर जगह चुनौती देकर समाज सर्वोच्च की अवधारणा को मजबूत करें ।

(2) हमारी दूसरी पहल यह होनी चाहिये कि राज्य भौतिक विकास को दूसरी प्राथमिकता मानकर सुरक्षा और न्याय को पहली प्राथमिकता मानना शुरू करे। इसके लिये जरूरी है कि हम राज्य से सुविधाओ की मांग पर ज्यादा जोर देने की अपेक्षा एसी मांगो को निरूत्साहित करें। यदि समाज को सुरक्षा और न्याय नही मिला तो हिंसा की आवश्यकता को कमजोर करना कठिन है।

(3) तीसरी बात यह होनी चाहिये कि हम समाज को किसी भी परिस्थिति मे न्यूनतम हिंसा की सलाह दे तथा राज्य को समुचित हिंसा की छूट दें। राज्य को न्यूनतम हिंसा का गांधीवादी प्रवचन बहुत घातक सिद्ध हुआ है। इस धारणा ने अपराध नियंत्रण के प्रयास मे हमेशा ही रोडे अटकाये है। जब तक राज्य कठोर दण्ड की पहल करके अपराधियों के मन मे कानून का डर नही पैदा कर पायगा तब तक सामान्य लोगो का कानून पर विश्वास नही बन सकेगा। यदि आवश्यक हो तो गुप्त न्यायिक प्रणाली का भी सहारा ले सकते हैं। आतंकवाद के परोक्ष समर्थक मुलायम सिंह दिग्विजय सिंह बाल ठाकरे, स्वामी अग्निवेश सरीखे लोगो की जबान ऐसी गुप्त मुकदमा प्रणाली लागू होते ही अपने आप बन्द हो जायगीं ।

(4) हम समाज मे यह भावना विकसित करें कि लोकतंत्र मे समाज में किसी भी प्रकार की हिंसा का कोई स्थान नही है। भारत मे वर्तमान समय मे लोकतंत्र है। इसे लोक स्वराज्य की दिशा देने के लिये जन जागरण की आवश्यकता है न कि हिंसा की । हर प्रकार की सामाजिक हिंसा का प्राथमिक स्तर स ही विरोध करे। दूसरी ओर सरकारी बल प्रयोग का अधिकतम समर्थन करें, भले ही ऐसा बल प्रयोग नरेन्द्र मोदी ही क्यो न करें। सरकारी बल प्रयोग का अधिकतम समर्थन तथा सामाजिक हिंसा का अधिकतम विरोध इस दिशा मे सार्थक हो सकता है।

(5) पांचवा कदम यह भी हो सकता है कि हम ग्राम सभा सशक्तिकरण को आधार बनाकर कुछ गांवो मे नई समाज रचना का काम श्शुरू करें। यह कार्य तो इस समस्या का सर्वश्रेष्ठ समाधान है। रामानुजगंज विकास खंड के पास के एक सौ तीस गांवो मे अविनाश भाई तथा राकेश शुक्ल जी के नेतृत्व मे प्रारंभ ग्राम सभा सशक्तिकरण अभियान नई समाज रचना की सफलता बताने के लिये पर्याप्त है।

हम लम्बे समय तक कायरता और अराजकता के बीच सुरक्षित नही रह सकते । हमे इसका समाधान खोजना ही होगा । मैने इस संबंध मे कुछ सुझाव दिये है । संभव है कि इनसे समाधान की आंशिक दिशा स्पष्ट हो पावे ।

प्रश्नोत्तर

1.श्री रवीन्द्र सिंह तोमर पत्रकार, संवाद सरोवर, गुना म.प्र.

डा0 राम मोहन लोहिया ने लिखा है कि व्यवस्था को तोडना हिंसा नही है। 'मनुष्य की मनुष्य के द्वारा हत्या हिंसा है'। विचारक अहिंसकों को विचारशील बनाते है। सामान्य जन पढने लिखने वालो की बात सुन समझ कर अन्याय का प्रतिरोध करने की शक्ति पाता है। राम कुमार भ्रमर ने मुरैना के गांवो मे प्रचारित जाको बैरी घर मे सोवे बाके जीवन को धिक्कार तीसरा पत्थर उपन्यास लिखकर अहिंसकों की शक्ति बढाई थी।

जेपी ने 1972 मे आत्म समर्पण कराया था। आत्मसमर्पण के बाद शान्ति और स्वाभिमान का संदेश देने वाला जौरा आश्रम का प्रभाव है कि आज वहां बीहड मे कोई नही कूदता हल बैल के स्थान पर ट्रेक्टर से खेती और मोबाइल से बातचीत होती है। मण्डल कमण्डल भूमंडल के कर्णधारो ने असामाजिक और असमानताए बढान वाली व्यवस्था को पोषण किया है। संगठित प्रयोजक सामान्यजन के अन्याय के प्रतिरोध अहिंसक तरीके से नही

करने दे रहे है। राजनीति ने वाल्मिक आदिकवि को दलितो की एक शाखा तक सीमित कर दिया। ओम प्रकाश वाल्मिक ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है कि देहरादून के सफाई कामगार ही उन्हे अपना साहित्यकार मानते है। ,सम्पन्न साहित्यकार उन्हे आमंत्रित नही करते है। यह भेदभाव 1989 मे मंडल कमंडल की राजनीति मे मंडल की सिफारिशे लागू करने से हुआ है। मंडल कमंडल के नेताओ ने मिलकर भूमंडल को आमंत्रित किया और समाज मे जातीय राजनीति का मीठा जहर फैलाया है।

सत्ता परतंत्र बनाकर व्यक्तियो को सुविधा भोगी और स्वार्थी बनाती है मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । समाज उसे स्वतंत्रता देता है । वह उसे परतंत्र दूसरे पर निर्भर और स्वेच्छाचारी दोनो मे रोकता है। वह कर्तब्य और अधिकारो से नागरिको को अवगत कराता है। सत्ता पर अंकुश रखने के लिये प्रजातंत्र मे संविधान बनाया जाता है । सत्ता संविधान पर अधिकार एंव व्यक्तियो को समझने और समझाने नही देती है जिससे सामाजिक और आर्थिक असमानताए बढती है। वह जातीय भेद साम्प्रदायिकता भ्रष्टाचारी समाज विरोधी तत्वो को संरक्षण देकर प्रजातंत्र की तीनो इकाइयों मे स्वैच्छाचारिता और पैसे की लालसा बढाई है। जिससे भ्रष्टाचारियो को और असामाजिक तत्वो को संरक्षण मिलता है।

उत्तर– आपके विचार दो माह पूर्व मिले थे किन्तु मेरी दो माह की यात्रा ने उत्तर में विलम्ब किया। रामकुमार जी भ्रमर ने अपने उपन्यास में "जाको बैरी घर में सोवे वाके जीवन को धिक्कार" जैसी बात लिखी। इस कहावत से बैरी शब्द का भी भावार्थ समझना होगा तथा देश काल परिस्थिति का भी आकलन करना होगा। यदि हम इस कथन को आदर्श मान लें तो सच्चाई यह होगी कि दानों ही एक दूसरे के शत्रु होंगे और दोनों में से किसी एक को भी घर में सोना ठीक नहीं। मेरे विचार में लेखक का यह तो आशय नहीं ही होगा और यदि होगा तो गलत है। विरोध की चार अवस्थाएँ होती हैं। (1) समीक्षा (2) आलोचना (3) विरोध (4) शत्रुता। शत्रुता तो अन्तिम सीढ़ी होती है जब न्याय प्राप्ति का अन्य कोई भी अवसर न बचे। लोकतंत्र में न्याय प्राप्ति के दोनों साधन उपलब्ध होते हैं (1) समाज (2)सरकार। मेरे विचार में इससे आगे जाने की जरूरत ही नहीं होती। मैंने अपने जीवन के पचपन सकिय वर्षों में अनेक बड़े बड़े संघर्ष किये हैं किन्तु आज तक किसी के साथ ऐसी शत्रुता की नौबत नहीं आई। अहिंसकों का मनोबल हिंसा के पक्ष में बढ़े इसकी अपेक्षा ज्यादा उचित होगा कि अहिंसक लोग सामाजिक प्रतिरोध प्रणाली को मजबूत करें। यदि सामाजिक प्रतिरोध प्रणाली के साथ साथ सरकार भी न्याय और सुरक्षा देना शुरू कर दे तो और भी अच्छा होगा। भारत में अभी सामाजिक स्तर तो बहुत ही अच्छा है। सरकार का स्तर भी पिछले तीन वर्षों से सुधरना शुरू हुआ है। ऐसी स्थिति में इस प्रकार की सोच विकसित करना उचित प्रतीत नहीं होता।

आपने सही लिखा कि प्रजातंत्र में संविधान सत्ता की सीमाएँ निश्चित करता है। इसका मतलब यह हुआ कि संविधान संसद से भी उपर है। ऐसी स्थिति में संसद संविधान में मनमाने फेर बदल कैसे कर सकती है। संसद को संविधान संशोधन के अन्तिम अधिकार उसे स्वेच्छाचारी तथा उच्श्रृंखल बनाते हैं। अच्छा हो कि आप इस संबंध में भी कुछ लिखें।

2.अनिल चमड़िया जनसत्ता 18 जनवरी दो हजार बारह

प्रश्न– राजनीति में जातिवाद, सांप्रदायिकता और राष्ट्रवाद का इस्तेमाल जगजाहिर है। राजनीति का एक नया हथियार संसदवाद बना है। यह भारतीय राजनीति का दिलचस्प मुकाम है। इस संसदवाद की मुखर पहचान भ्रष्टाचार के खिलाफ लोकपाल जैसी संस्था बनाने की मांग को लेकर चले आंदोलन के दौरान हुई। इस संसदवाद की वैचारिकी एक नए मिजाज की है। कांग्रेस प्रवक्ता मोहन प्रकाश ने भ्रष्टाचार–विरोधी आंदोलन से निपटने का एक रास्ता निकालने की मशक्कत की। वे समाजवादी विचारों को मानने वाले राजनीतिक के रूप में जाने जाते हैं। उन्होंने दलील दी कि संसद की सर्वोच्चता को कोई चुनौती नहीं दे सकता।

. संविधान सर्वोपरि है। इस रुख से भ्रष्टाचार के पर्दाफाश से परेशान न केवल कांग्रेस ने राहत की सांस ली, बल्कि सभी संसदीय पार्टियों को भ्रष्टाचार–विरोधी गैरदलीय आंदोलन से निपटने का एक रास्ता नजर आया। लगभग सभी पार्टियों ने कांग्रेस की उस लाइन का अनुसरण किया। इस तर्क का सामाजिक विस्तार भी किया गया। संसदवाद ने संसद की सर्वोच्चता को चुनौती मिलने का हौवा खड़ा किया और फिर इसे संविधान को दी जा रही चुनौती बताते हुए इसे भीमराव आंबेडकर पर भी हमला करार दिया। इस रुख की व्याख्या का जितना विस्तार हो सकता था वह हुआ।

क्या आंदोलन संसद और संसदीय व्यवस्था विरोधी होते हैं? शायद ही कोई इसका जवाब हां में देगा। बल्कि कहा जायेगा कि संसदीय व्यवस्था और आंदोलन एक दूसरे के पूरक हैं। संसद में बैठे प्रतिनिधियों में कई ऐसे भी हैं जो किसी न किसी आंदोलन से निकले हैं। लेकिन प्रवृत्ति के तौर पर देखें तो यह सच है कि संसदीय राजनीति से आंदोलन की विदाई हो चुकी है।

यदि मतदान प्रतिशत ही संसदीय प्रजातंत्र की सफलता का आधार है तो मतदान से दूर रहने वालों को क्या संसदीय व्यवस्था के विरोधी के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए? संसदीय व्यवस्था के विरोध की कई धाराएं होने की बात एक दूसरी बहस है। मौजूदा स्थिति यह है कि संसदीय राजनीति करने वाला लगभग हर सदस्य कठघरे में खड़ा है। मतदाताओं के सामने यह विकल्प नहीं है कि वे चुनाव की व्यवस्था से अलग अपनी सरकार बनाने का मत जाहिर कर सके। मतदान राजनीति पर भरोसे के परिचायक के रूप में नहीं देखा जाता है।

मतदान की मौजूदा स्थिति पर एक सजग प्रतिकिया यह सुनने को मिली है कि परिवर्तन और लोकतंत्र की विचारधारा को छोड़ कर मतदाता कतार में खड़े दिखाई देने लगे हैं। देश में नक्सलवादो विचारधारा को मानने वाली पार्टियां और ग्रुप संसदीय व्यवस्था का विरोध करते और मतदान के बहिष्कार का नारा देते आए हैं। लेकिन उन्हें कभी भी इसमें कोई उल्लेखनीय कामयाबी नहीं मिली। इसे इस रूप में भी देखा गया है कि देश का

अवाम किसी भी तरह के हिंसक बदलाव में यकीन नहीं करता है और संसदीय व्यवस्था में उसकी आस्था है। निश्चय ही नक्सलवादियों के रास्ते बदलाव को मतदाताओं ने स्वीकार नहीं किया है। सरकारों ने नक्सलवादियों के रास्ते के बरक्स अहिंसावाद के प्रति मतदाताओं का समर्थन हासिल किया है। लेकिन भूमंडलीकरण के बाद संसदीय राजनीति में एक बुनियादी बदलाव आया है। उसे सूत्र रूप में इस तरह देखा जा सकता है कि नक्सलवादियों के खिलाफ लड़ाई का नारा बिल्कुल बदल गया है।

नक्सलवादी आंदोलनों को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्या के रूप में देखने और हल करने का जो नजरिया था वह पूरी तरह से बदल गया। नक्सलवाद को राष्ट्रवाद के विरोध के रूप में नियंत्रित करने की नई रणनीति सामने आई। इस नजरिए में बदलाव को भी समझा जाना चाहिए। जब यह स्वीकार किया जाता रहा कि आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक समस्याओं का नतीजा यह आंदोलन है तब तक संसदीय पार्टियों पर भी यह दबाव रहा कि वे भूमि समस्या और न्यूनतम मजदूरी जैसे बुनियादी मुद्दों पर अपना आंदोलनकारी रुख जाहिर करें। लेकिन जैसे ही केवल हिंसा को नक्सलवादी आंदोलन के चेहरे के रूप में पेश करने की स्वीकृति मिली उससे इस नजरिए को बदलना आसान हो गया। इसमें भूमंडलीकरण के बाद नए सिरे से खुद को पुनर्गठित करने में लगी लगभग सभी संसदीय पार्टियों ने अपनी भूमिका अदा की। पश्चिम बंगाल के संदर्भ में माकपा तक की दृष्टि में जो बदलाव दिखाई देता है उसे भी इसकी कड़ी के रूप में देखा जाना चाहिए। दूसरी तरफ भूमंडलीकरण के समर्थन की स्थिति में संसदीय पार्टियों ने खुद को राष्ट्रवाद के पुराने नारे के करीब लाकर खड़ा कर लिया। गौर करें तो यह देखा जा सकता है कि नक्सलवादी हिंसा के विरोध के नाम पर देश भर में उन तमाम आंदोलनों को कुचला गया जिनके मुद्दों से संसदीय पार्टियां दूर होती गई हैं। या दूसरी तरह से कहें कि हर वैसे आंदोलन को नक्सलवाद के ठप्पे के सहारे कुचलने और संसदीय पार्टियों की चुप्पी की वैधता बनती चली गई। जबकि ज्यादातर आंदोलन इस दौर में सत्ता से कुछ हासिल करने के लिए नहीं हो रहे थे बल्कि सत्ता के आक्रमण से अपने अस्तित्व और अपने मानवीय और राजनीतिक हकों को बचाने के मुद्दों से जुड़े हुए थे।

एक तरह से नक्सलवाद की लड़ाई का चेहरा हिंसक रूप में पेश करने की रणनीति वास्तव में परिवर्तनकारी आंदोलनों के विरोध के रास्ते पर संसदवाद को ले जाने के लिये बनाई गई थी। इसी परिप्रेक्ष्य में भ्रष्टाचार–विरोधी आंदोलनों के साथ संसदीय पार्टियों के व्यवहार को देखा जाना चाहिए। भ्रष्टाचार–विरोधी आंदोलनों के मंच से बार–बार इस बात पर जोर दिए जाने के अर्थ तलाशने की जरूरत नहीं कि हम हिंसा में यकीन नहीं करते हैं।

आंदोलन करने वालों की तरफ से आंदोलन को तेज करने की योजना बनाने से ज्यादा यह चेतावनी प्रसारित करने का दबाव था कि हिंसक गड़बड़ी पैदा करने की कोशिश की जा सकती है। दरअसल, आंदोलनों से निपटने की जो रणनीति अहिंसावाद के रूप में अब तक कारगर होती जा रही थी उसने आंदोलनों पर मनोवैज्ञानिक तौर पर दबाव बना दिया है। उसे सफाई देनी पड़ती है।

भ्रष्टाचार–विरोधी आंदोलन ने संसदीय सत्ता द्वारा आंदोलनों से निपटने के दो तरीके विफल किए। एक तो उसने अहिंसावाद का पाठ सरकार की तरह से पढ़ना शुरू किया और दूसरे उसने राष्ट्रवाद के सबसे उग्र नारे के करीब खुद को खड़ा दिखाया। यह पहला अवसर था जब सरकार चला रही पार्टियों ने ही नहीं बल्कि लगभग सभी संसदीय पार्टियों ने संसदवाद को खतरे में महसूस किया और संसदवाद को बचाने की एकताबद्ध कोशिश की। लेकिन इसे एक दूसरे रूप में भी देखा जाना चाहिए कि इससे आंदोलनों से संसदीय राजनीति के दूर होते जाने का सच भी सामने आया। संसदीय पार्टियां बेहद लाचार नजर आईं। एक यह भी संदेश साफ तौर पर सुनाई दिया कि सांसद, जिनका काम मुख्यतः कानून बनाना है, उससे भी भाग रहे हैं। संसद मतदान की विकल्पहीन व्यवस्था के बावजूद लाचार नजर आई। यानी संसद के साथ मतदान है, लेकिन मतदाता नहीं हैं। संसद का स्वर अब तक के इतिहास से बिल्कुल बदला हुआ सुनाई दिया।

बहरहाल, इस पूरे घटनाक्रम का यह निचाड़ निकल कर सामने आया कि संसदवाद को ही पार्टियों ने आंदोलनों से निपटने के एक रास्ते के रूप में देखा। शीतकालीन सत्र से पूर्व संसद जो बैठी थी दरअसल वह संसदवाद के नए सिरे से गठन की भी बैठक थी। उसी संसदवाद ने यह आश्वासन दिया था कि शीतकालीन सत्र में भ्रष्टाचार–विरोधी कानून की मांग पूरी की जाएगी। लेकिन संसद इसे पूरा नहीं कर सकी।

इस संसदवाद की अंतर्धारा में एक प्रच्छन्न तानाशाही की मौजूदगी के संकेत मिल रहे हैं। इस स्थिति की जरा कल्पना करें कि एक तरफ तो यह कहा जाता है कि चुनाव यानी मतदान संसद की जान है लेकिन देश को दिए गए भरोसे को तोड़ कर भी पार्टियां चुनाव में जाने का दुस्साहस कर रही हैं। इसका अर्थ क्या निकाला जा सकता है? उन्हें यह तो पक्का लगता है कि भरोसे को तोड़ना संसदीय पार्टियों की विकल्पहीनता की स्थिति को बदलने की लड़ाई का कारण नहीं बनेगा। शायद यह सच भी है।

इस संसदवाद को इस तरह से समझने की कोशिश की जानी चाहिए कि यह जीवंत और परिवर्तनशील लोकतंत्र के लिए चलने वाले आंदोलनों की विदाई की घोषणा कर चुका है। आंदोलनों को तय करना है कि इस संसदवाद से निपटने का क्या रास्ता अख्तियार करें। डॉ लोहिया कहते थे कि जिंदा कौम पांच साल तक इंतजार नहीं करती, तो वह चुनाव को परिवर्तन के एकमात्र रास्ते के रूप में ग्रहण नहीं करने की चेतावनी थी। अब जब संसदवाद को आंदोलनों को अनसुना करने की एक वैचारिकी और उन्हें कुचलने के एक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है डॉ लोहिया की उस चेतावनी की अहमियत और बढ़ जाती है।

उत्तर– आप आमतौर से वामपंथी विचारधारा के पोषक माने जाते हैं। संसद सर्वोच्च है इस असत्य को असत्य अलोकतांत्रिक सिद्ध करने को आधार बनाकर आपने अराजकता का समर्थन करने का प्रयास किया। आपका यह

प्रयास ठीक नहीं। संसद सर्वोच्च का नारा खतरनाक है। वैश्वीकरण भी गलत दिशा है। विकास में भारी असंतुलन भी ठीक नहीं। मैं इन सब विचारों से सहमत हूँ। किन्तु मैं आपके इस निष्कर्ष से असहमत हूँ कि संसद सर्वोच्च के विरूद्ध आंदोलन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया जाये। अन्ना हजारे तथा जयप्रकाश आंदोलन को छोड़कर भारत में जो भी आंदोलन हुए उन सबने संसद सर्वोच्च के विचार को ज्यादा से ज्यादा मजबूत ही करने का काम किया है। यदि कोई संसद या सरकार से भौतिक सुविधाओं के विस्तार के लिये मांग करता है तो इससे तो संसद सर्वोच्च के विचार को स्वीकृति ही मिलती है। ऐसे आंदोलन से संसद या सरकार को समाज या व्यक्ति के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप का अधिकार विस्तार होता है। ऐसे आंदोलन तो संसद या सरकार को नये नये टैक्स लगाने की सुविधा प्रदान करते हैं। आज समाज जागृत होकर ऐसे आंदोलनों को निरर्थक समझना शुरू कर रहा है तो आप आंदोलनों की आवश्यकता सिद्ध करने में सक्रिय हैं। ध्यान रहे कि आंदोलन हमारी मजबूरी होना चाहिये न कि शौक। राजनैतिक दल आंदोलन खड़े करवाकर मांग पूरी करने का नाटक करते रहते हैं जो ठीक नहीं। डा. लोहिया जिन स्थितियों में आंदोलन का समर्थन करते थे उससे आज की स्थितियॉ बहुत भिन्न हैं। समाजवादी विचारक मोहन प्रकाश जी आंदोलनों के समर्थक रहते हुए भी आंदोलन अन्ना के आंदोलन के विरूद्ध इसलिये खड़े हुए क्योंकि यह आंदोलन संसद सर्वोच्च को स्वीकार करते हुए भी संसद की सर्वोच्चता को चुनौती देता दिख रहा था। तभी तो सभी सांसद इस संबंध में सारा भेदभाव भूलकर एक जुट हुए। लोकतंत्र में ऐसे किसी भी आंदोलन का कोई औचित्य नहीं हो सकता जो व्यक्ति के मूल अधिकारों पर आक्रमण करता हो। घेराव, चक्काजाम, जबरदस्ती दुकान बन्दी जैसे कार्य किसी रूप में आंदोलन का भाग नहीं हो सकते। आप जिस आंदोलन की बात कर रहे हैं उसमें इन सबकी गंध है।

आपने अपने लेख के माध्यम से नक्सलवाद के पक्ष में लिखने की कोशिश की है। सच यह है कि नक्सलवाद को देखने का दृष्टिकोण न बदलकर नक्सलवाद का चरित्र ही बदल गया है। बीस तीस वर्ष पूर्व नक्सलवाद व्यवस्था परिवर्तन की दिशा में झुका हुआ दिखता था और आज हिंसक सत्ता संघर्ष की दिशा में। क्या अब नक्सलवाद वास्तव में कानू सान्याल चारू मजूमदार की लाइन पर जा रहा है? मार्क्सवादी भी नक्सलवाद का बचाव करते करते थक चुके हैं। आर्थिक विषमता को बहाना बनाकर हिंसक अराजकता के वातावरण निर्माण को सख्ती से कुचलने की आवश्यकता है न कि वकालत करने की।

आपने भूमंडलीकरण का विरोध किया है। यदि भूमंडलीकरण की जगह स्थानीयकरण होता हो तो ठीक है किन्तु यदि भूमंडलीकरण की जगह राष्ट्रीयकरण पैर पसारता है तो गलत है। आज इक्यान्नबे के पूर्व का मजा उठा चुके लोग भूमंडलीकरण उदारवाद आदि का विरोध करके इक्यान्नबे के पूर्व का जो सपना देख रहे हैं वह पूरा होने वाला नहीं है।

आंदोलन अन्ना को दबा हुआ समझकर जो संसद या सांसद आज राहत महसूस कर रहे हैं वे भ्रम में हैं। अन्ना जी का आंदोलन संसदवाद को प्रत्यक्ष चुनौती न देकर परोक्ष चुनौती थी। समाज के सामने स्पष्ट संदेश का अभाव था। अब वैसी भूल नहीं होगी। अब अन्ना जी का आंदोलन लोक संसद के लिये होगा। वह आंदोलन निर्णायक होगा। यदि अन्ना जी किसी कारण वश न कर सके तो कोई न कोई जरूर खड़ा होगा क्योंकि देश की जनता संसदवाद से उब चुकी है। उसे इससे छुटकारा चाहिये। आशा है कि आप संसदवाद को अपने चश्मे से न देखकर हम सबके चश्मे से भी देखने का प्रयास करेंगे।

3 श्री सिद्धार्थ शर्मा बैंगलोर, कर्नाटक

विचार– 31 जनवरी को भारत के उच्चतम न्यायालय की द्वि–खंडपीठ ने सुब्रह्मण्य स्वामी की एक याचिका पर महत्वपूर्ण फैसला देते हुए कहा कि भारत के किसी भी नागरिक द्वारा सार्वजनिक सेवक पर भ्रष्टाचार के अभियोजन की स्वीकृति सरकार को तीन महीने के भीतर शिकायतकर्ता द्वारा प्रदत्त प्रथम दृष्टया प्रमाण के आधार पर देनी ही होगी अन्यथा वह दी गई ऐसा माना जाएगा। मामला 2008 नवम्बर का है जब स्वामी ने प्रधानमंत्री कार्यालय में तत्कालीन सूचना मंत्री के खिलाफ टू–जी स्पेक्ट्रम आवंटन में भ्रष्टाचार में लिप्त होने का प्रमाण पेश करते हुए उनके खिलाफ मुकदमा दायर करने की स्वीकृति मांगी। भारत के वर्तमान भ्रष्टाचार निरोध अधिनियम कानून की धारा 19 के तहत किसी भी सरकारी व्यक्ति के खिलाफ भ्रष्टाचार का मामला दर्ज करने की पूर्व स्वीकृति सरकार से प्राप्त करना आवश्यक है। प्रधानमंत्री कार्यालय से अभियोजन की स्वीकृति में देरी होती देख स्वामी ने याचिका दायर की जिसका उपरोक्त फैसला आया है। निःसंदेह न्यायालय का फैसला स्वागतयोग्य कदम है, पर प्रश्न यह उठता है कि तंत्र की करतूतों के कारण अगर न्यायपालिका को जबरन प्रशासनिक विषयों में घसीटा जाय तो उसकी अन्याय के विरूद्ध फैसला देने की शक्ति तो निश्चित तौर पर घटती है। आज भारत के बहुसंख्य मुकदमों में तंत्र ही वादी/प्रतिवादी है जो शोचनीय स्थिति है।

भारत में आज दो तरह का भ्रष्टाचार व्याप्त है। पहले प्रकार में व्यक्ति आर्थिक अनैतिक आचरण में लिप्त है। इसमें श्रमजीवी तथा अपवादों को छोड़ बाकी समस्त लिप्त हैं। मगर यह भ्रष्टाचार केवल दो इकाइयों तक सीमित है जिसे अनैतिक मुनाफावाद की संज्ञा दी जा सकती है और यह कम घातक है। दूसरे प्रकार के भ्रष्टाचार में अधिकारों का दुरूपयाग है, जिसका आर्थिक कोण एक छोटा सा अंशमात्र है और यह बहुत घातक है। अधिकारों के इस दुरूपयोग के कारण देश की नीति निर्धारण पर असर पड़ता है जिसका सीधा परिणाम समाज तथा भावी पीढ़ियों पर पड़ता है। सन् 2011 में भारत की जो जनता सडकों पर आई थी वह इसी अधिकारों के दुरूपयोग के विरोध में।

भारत में लोकतंत्र की एक विकृत परिभाषा प्रचलित की गई है कि सुव्यवस्था के लिए तंत्र को लोक की तुलना में ज्यादा अधिकार होने चाहिए। अधिकारों का यह केन्द्रीकरण ही भारत में भ्रष्टाचार की जड़ है

क्योंकि लोकतंत्र की सही परिभाषा में सभी अधिकार लोक के पास होते हैं और तंत्र सुव्यवस्था प्रदान करने वाला नहीं, अपितु स्वव्यवस्था की एक इकाई मात्र होता है।

भारत में यह भ्रष्टाचार पिछले छः दशकों में बढ़ते–बढ़ते राक्षस का रूप ले चुका है। और जनता आज यह समझ चुको है कि राक्षस का नाश अंग–भंग करने से नहीं होगा। उसकी नाभि में स्थित अमृत के नाश से ही समाधान है। तंत्र को अब समझ जाना चाहिए कि अब उसके आदेशों को नहीं, उसके अधिकारों को ही चुनौतियां दी जाएंगी। क्योंकि आदेशों को चुनौती से तो तंत्र की वैधानिकता, लेजिटिमेसी और अधिक पुष्ट होती है। उच्चतम न्यायालय के फैसले ने यही तो किया है। उसने तंत्र के भ्रष्टाचार संबंधी शिकायतों में हस्तक्षेप करने के अधिकार ही सीमित कर दिए हैं।

खास बात यह कि यह रुझान केवल भारत में ही नहीं है। कदाचित विश्व– वातावरण में लोकतंत्र के परिष्कृत रूप की भूख जाग रही है। भारत में संसद सर्वोच्च का नारा देनेवालों को हाल ही में निर्मित राष्ट्र स्लोवाकिया का ताजा उदाहरण देखना चाहिए जहां के सांसद स्वेच्छा से यह कानून बनाने जा रहे हैं जिसके तहत उनके विशेषाधिकार में प्रचंड कटौती होनेवाली है।

उत्तर– न्यायपालिका ने सुब्रमन्यम स्वामी की याचिका पर निर्णय दिया कि विधायिका किसी शिकायत का निपटारा तीन माह के भीतर नहीं करती तो शिकायत कर्ता की शिकायत करने में सरकारी बाधा स्वतः दूर मान ली जायेगी। न्यायालय का यह निर्णय स्वागत योग्य है। इससे सरकार की मनमानी पर अंकुश लग सकेगा।

विचारणीय यह भी है कि न्यायपालिका को स्वयं यह निर्णय करने में तीन माह से कई गुना ज्यादा बल्कि कई वर्ष का समय लगा। मुझे याद है कि मेरे विरूद्ध एक वाद दायर करने की अनुमति के लिये सिर्फ एक ही न्यायालय में उन्नीस वर्ष का समय लगा। उन्नीस वर्ष बाद न्यायालय में निर्णय दिया कि वाद दायर करना वाद दायर कर्ता के अधिकार क्षेत्र से बाहर है। प्रधानमंत्री कार्यालय को शिकायत के गुण दोष की समीक्षा करने के बाद अनुमति देने न देने का निर्णय करना था और न्यायालय को गुण दोष की समीक्षा न करके सिर्फ न्याय और व्यवस्था की सीमा रेखा पर ही निर्णय करना था। न्यायालय को भी अपने विषय में कोई सीमा रेखा बनानी चाहिये। विचार करिये कि सिर्फ केस चलाने की अनुमति के मामले के उन्नीस वर्षो में कम से कम सौ बार मुझे न्यायालय के चक्कर लगाने पड़े तथा खर्च हुआ सो अलग। संभव है कि न्यायपालिका अपने विषय में भी विचार करेगी।

अभी अभी सर्वोच्च न्यायालय ने नदी जोडे योजना की उपयोगिता पर अपना निर्णय सुनाया । अटल जी के समय से योजना पर विचार चल रहा था। सुप्रीम कोर्ट को यह सरकारी योजना के गुण दोषो पर विचार करने मे पांच सात वर्ष का समय लगा। क्या यह उचित माना जा सकता है? या तो न्यायालय कुछ कम महत्वपूर्ण कार्यो मे हाथ डालकर ओवर लोडेड हो गया है अथवा उसे यह आभाष हो चुका है कि वह तो सबकी समीक्षा कर सकता है किन्तु उसकी समीक्षा कोई नही कर सकता। सरकार पर अंकुश लगाना एक अलग बात है अभी अपनी ओर बिल्कुल न देखना अलग बात। न्यायालय को इन प्रश्नो का भी समाधान खोजना चाहिये।

आपने स्लोवाकिया का उदाहरण देकर भारतीय नेताओं को समझाया है कि वे अधिकारों की भूख इतनी न बढ़ायें की पेट फट जाये। अच्छा हो ये दुनिया के वातावरण शिक्षा लेते हुए उचित मार्ग निकालें।

4 आनन्द कुमार जनसत्ता 16 फरवरी 2012.

विचार–भारतीय समाज और राजनीति में जाति को लेकर इधर कुछ दिनों से एक नई चेतना बन रही है। कुछ लोगों का मानना है कि हमारा समाज, खासकर हमारी सरकार और राजनीतिक समुदाय जातिविहीन समाज की रचना के संकल्प को कुचल रहे हैं। वे सब मिल कर तात्कालिक लाभ की दृष्टि से ऐसे उपाय कर रहे हैं, जिनसे जाति वापस आ रही है। दूसरी तरफ, समाज वैज्ञानिकों का बहुत बड़ा समूह स्वीकार कर रहा है कि जाति–व्यवस्था के पारंपरिक ढांचे की, जो छआछूत, पवित्र–अपवित्र, जजमान–पुरोहित जैसे सांचों से बना था, प्रासंगिकता लगातार घटती जा रही है, क्योंकि अब हम धीरे–धीरे नियमबद्ध संबंधों के जरिए अपने आसपास के संसार को रचने की क्षमता विकसित कर रहे हैं। इसके पीछे जनतंत्र और आधुनिकीकरण का बड़ा योगदान ह। लेकिन यह समूह इस बात से इनकार नहीं करता कि जाति का नया अवतार हुआ है, जिसमें सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष की तुलना में राजनीतिक पक्ष प्रासंगिक है।

हालांकि अब जाति और हिंदू धर्म का संबंध धर्म के दायरे से उपर उठ कर, जाति और सभी धर्मो के बोच के संबंध के रूप में देखा जाने लगा है। दलित ईसाई आंदोलन, मुसलमानों में पसमांदा समाज का आंदोलन, सिखों में मजहबी सिखों का आंदोलन और बौद्धों में नवबौद्धों की समस्याएं जाति की धर्मनिरपेक्ष वास्तविकता को पहचानने का सवाल उठा रही हैं। इधर अस्सी वर्ष बाद सरकार को भी समाज की बनावट समझने के लिए जाति जनगणना की जरूरत महसूस हुई। अगर जाति– व्यवस्था के अलग–अलग रूपों और संदर्भो से जुड़े बिना हम जाति के बारे में चर्चा करेंगे तो कुछ सामान्य और सतही निष्कर्षों तक ही पहुंच सकते हैं, जिसमें दोनों तरह का सच गैरजरूरी बन जाता है जाति खत्म हो रही है, जाति बढ़ रही है।

कई समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि जाति का सच औपनिवेशिक भारत में जड़ता की हद तक सामाजिक जीवन के संदर्भ में राज्य–व्यवस्था द्वारा संरक्षित किया गया। यह मान्यता कई समाज सुधारकों के इस सोच से अलग जाती है कि अंग्रेजी राज में जाति का ढांचा कमजोर हुआ, क्योंकि इस दौर में आधुनिक शिक्षा, जाति विरोधी आंदोलनों को प्रश्रय और जाति संबंधी कई निषेधों को गैर–कानूनी ठहराने का काम किया गया।

आज जाति की व्याख्या करते समय प्रायः चुनाव के समय हो रही जातिगत गोलबंदी और दलों के बीच विभिन्न जातियों के अंदर अपना वोट बैंक बनाने की होड़ सबसे ज्यादा चर्चा का विषय बनते हैं। लेकिन हमें ध्यान रखना चाहिए कि यह जाति–व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन के कारण संभव हुआ है कि ब्राह्मणों, दलितों और यादवों की गोल एक दूसरे से सीधी कानूनी व्यवस्था के अंतर्गत आधुनिक राज्यतंत्र पर कब्जा करने के लिए होड़ में आ गई हैं। जाति–व्यवस्था होड़ का निषेध करती है। जाति में लोगों की जगह पारंपरिक, पौराणिक और समकालीन शक्तियों की मदद से स्थिर रखी जाती थी। आज का जाति समूह और उससे जुड़ी हुई राजनीतिक व्यूह–रचना जाति के आधुनिकीकरण का परिणाम है। इस तरह हमारी जाति–व्यवस्था आधुनिकता के दो दौर से गुजरी है। इन दोनों के अलग–अलग परिणाम हैं। इनको समझे बिना हम जाति के नए अवतार की ठीक से व्याख्या नहों कर सकते।

जब हम जाति की आधुनिकता के दूसरे दौर में पहुंचे, यानी स्वाधीनोत्तर भारत में जाति का स्थान तय करने का अवसर आया, तो संविधानसभा ने तीन साल की लंबी बहस के बाद सर्वसम्मति से भविष्य के भारत के लक्ष्य के तौर पर जातिविहीन और वर्गविहीन समाज की रचना का संकल्प लिया।

आजाद भारत के आरंभिक दशकों में जाति–व्यवस्था के आधार पर होने वाले भेदभाव को न केवल अवैध करार देना, बल्कि जाति के कारण सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक और सांस्कृतिक अवसरो से वंचित लोगो के लिये विशेषाधिकारो की व्यवस्था यानी आरक्षण का प्रावधान किसी क्रान्ति से कम नही था।

आज सभी पुरानी जाति तोडो शक्तियो का लक्ष्य आरक्षण मे आरक्षण बन गया है। इससे जाति को एक नया आधार मिलता दिखाई दे रहा है। क्योकि अगर हमारी जातीय पहचान घुली मिली रहेगी तो आरक्षण के अंदर आरक्षण का दावा पूरा नही हो सकता । नतीजतन जाने अनजाने जाति की पीडित जमाते कई कारणो से जातिगत पहचानो को नया आधार और आकार देने की संवैधानिक व्यवस्था के लाभ के लिये विवशता महसूस कर रही है।

क्या भूमंडलीकरण के कारण जाति व्यवस्था पर कुछ प्रभाव रहा है? क्या रोजगार की तलाश मे लाखो की तादाद मे एक इलाके से दूसरे इलाके जा रहे लोगों का सच जाति व्यवस्था को कमजोर करने यानी अंतर्जातीय विवाहो को बढाने मे कुछ मदद कर रहा है? इन सबसे उपर आधुनिक शिक्षा और सूचना क्रान्ति से जाति की सीमाओं और समस्याओं की लेकर हम कुछ आत्मालोचक बनने की क्षमता विकसित कर रहे है।

इक्कीसवी सदी के दूसरे दशक को इन सभी प्रश्नो का उत्तर देना पडेगा क्योकि अब न तो पुरानी जाति व्यवस्था चल सकती है और न ही जातिविहीन समाज बनाने का पुराना आदर्श आकर्षक रह गया है। फिर तीसरा रास्ता क्या होगा जिसमे स्त्री दलित अति पिछडा अल्पसंख्यको का पिछडा और आदिवासी खुल कर जनतंत्र की व्यवस्था मे निहित त्रिमुखी न्याय का लाभ उठा सके और सारा समाज परस्पर सहमति के आधार पर जातिविहीन और वर्ग विहीन दुनिया की रचना के ऐतिहासिक संकल्प के साथ इमानदारी से अपना संबंध बनाए रख सके।

उत्तर– जाति व्यवस्था और वर्तमान की आपने अच्छी विवेचना की है। यह सच है कि स्वतंत्रता के पूर्व जाति व्यवस्था सामाजिक ढाचे के अंतर्गत थी जिसे राजनैतिक व्यवस्था निरूत्साहित कर रही थी। स्वतंत्रता के बाद जातिवाद का सामाजिक स्वरूप घटता गया और राजनैतिक स्वरूप मजबूत होता गया। स्वतंत्रता के पूर्व अनेक समाज सुधारक जाति व्यवस्था को समाप्त करना चाहते थे। ऐसे लोगो मे स्वामी दयानंद या गांधी प्रमुख थे। उसी कालखंड मे एक दूसरा ग्रुप भी था जो जातिवाद के वर्तमान स्वरूप को बदलकर उसका लाभ उठाना चाहता था और इसके लिये जातिवाद को किसी भी रूप मे मजबूत रखना उनकी मजबूरी थी । यह समूह जातिवाद को किसी भी रूप को कमजोर करने का पक्षधर नही था । ऐसे महापुरूषो मे अम्बेडकर जी प्रमुख थे। जो समूह जातिवाद को समाप्त करना चाहता था, वह सवर्णो के मन मे कतब्य भाव जागृत कर रहा था किन्तु अवर्णो के मन मे अधिकार भाव जागृत नही कर रहा था। अम्बेडकर जी का ग्रुप अवर्णो मन मे अधिकार भाव तथा सवर्णो के मन मे मजबूरी का भाव पैदा कर रहा था। गांधी के ग्रुप का पिछडना और अम्बेडकर जी के ग्रुप का मजबूत होना स्वाभाविक था जिसका परिणाम हुआ कि दोनो समूह वर्ग के रूप मे आमने सामने हो गये । अम्बेडकर जी तो चले गये किन्तु उनके लगाये पौधे के अच्छे बुरे फल आज भी हमारे लिये प्रश्न बने हुए है।

हर अपराधी चाहता है कि सामाजिक अथवा राजनैतिक व्यवस्था मे ध्रुवीकरण का आधार चरित्र कभी न हो । यदि चरित्र के आधार पर ध्रुवीकरण होगा तो अपराधी तत्वो के छिपने के मार्ग बन्द हो जावेंगे। इसलिये सभी अपराधी समाज को जाति धर्म भाषा क्षेत्रियता उम्र लिंग गरीब अमीर किसान मजदूर के रूप मे वर्गानुसार संगठित देखना चाहते है। सवर्ण अपराधी भी लगातार अवर्णो के विरूद्ध निरंतर सक्रिय रहते है तथा अवर्ण अपराधी भी सवर्णो के विरूद्ध। वर्तमान आरक्षण व्यवस्था को कमजोर करने का कोई मार्ग दिखता नही था क्योकि आरक्षण व्यवस्था अवर्ण बुद्धिजीवियों के लिये एक वरदान स्वरूप थी । यदि इसी तरह चलता रहा तो हजारो वर्षो तक कोई समाधान नही निकल सकेगा। क्योंकि गाय और कुत्ता दोनो ही पशु हैं और गाय की रोटी कुत्ता खाये तो गाय को आपत्ति क्यो? ऐसी स्थिति मे जातिवाद के विरूद्ध जातिवाद को खडा करने का मार्ग खोजा गया । पिछडो को अति पिछडा दलित को महादलित मुसलमानो मे पसमांदा जैसे वर्ग के भीतर वर्ग खडा करने की योजना पर काम शुरू हुआ । संभव है कि यह जातीय टकराव जातिवाद को तोडने मे सहायक हो । क्योकि जब इस तरह वर्ग टूटेगे तब कोई नया मार्ग दिखेगा। इस तरह मजबूत जातिवाद ही जातिवाद को समाप्त करने का आधार बन सकता है । किन्तु यह राजनैतिक मार्ग सामाजिक एकता के लिये कितना घातक होगा यही आकलन कठिन है।

यदि जातिवाद को कम समय मे समाप्त करना अभीष्ट हो तो एक अच्छा मार्ग संभव है कि जो परिवार स्वयं को जाति धर्म से मुक्त कर दे उन्हे सरकारी नौकरी या राजनीति मे सिर्फ पांच प्रतिशत आरक्षण दे दिये

जाय। वे अपना नाम तथा अपनी पहचान बदल दे । बहुत जल्दी एक नई जाति बन जायगी। ऐसे घोषित लोग विवाह आदि भी अपनी नई जाति मे ही करने को बाध्य होंगे। इनका आरक्षण धीरे धीरे बढाते जाइये। पांच वर्ष मे ही इनकी आबादी पचीस तीस प्रतिशत हो जायगी और उसके बाद जातिवाद टूट जायगा। एक दूसरा मार्ग क्रीमी लेयर का भी बहुत ठीक है । इस मार्ग से भी धूर्त अवर्ण आरक्षण के लाभ से बाहर होने के कारण आरक्षण का विरोध करने लगेंगे। चाहे जो भी मार्ग हो किन्तु कुछ न कुछ करना ही होगा।

5.श्री मनोज दुबलिस मेडी सेंटर मेरठ उत्तर प्रदेश (इमेल से)

इससे बडा दुर्भाग्य देश का और क्या होगा कि अखबार या समाचार पत्र पढने वाले इंटरनेट प्रयोग करने वाले सभी भाई–बहिन बुर्जुग लिखे –पढे शिक्षक, डाक्टर, व्यवसायी, इंजिनियर या पेशेवर, चार्टर–एकायुटेंट है परन्तु जब आप वोट डालने जायेगें तो आप एक अपने से कम पढे लिखे यानी मात्र कक्षा पांच प्रत्याशी को ही वोट देगें। यह आपकी मजबूरी नही परन्तु आपने हमसे स्वयं को मजबूर बना रखा है। एक मूर्ख को विधायक बनाने से पहले इतना तो सोचे कि आखिर हम कर क्या रहे है? क्या मूर्खो, अपराधियो को विधायक बनाने से हम राष्ट्र की सेवा कर रहे है या राष्ट्र द्रोह कर रहे है? कालिदास भी एक महामूर्ख था विद्योत्मा ने उसको एक महाकवि बना दिया इसी प्रकार हमारा वतन एक खूबसूरत देश है, जिसको चमन बनाने की जगह हम खुद ही उजाडने मे लगे ह। अब सोचिये कि क्या हमे ऐसे व्यक्ति को वोट डालना चाहिये या मतदान का बहिष्कार करना चाहिय? जब तक कोई पढा लिखा व्यक्ति नही मिलता तब तक अपने कीमती वोट का सम्मान करना एवं अपने मताधिकार को सुरक्षित बनाये रखना हमारी स्वयं की ही जिम्मेदारी है। यही कारण है कि आज हमारे देश मे महामूर्खो का सम्मान होने लगा है और पढा लिखा व्यक्ति भीख मांग रहा है। भारत के सर्वोच्च पद पर आसीन और सबसे छोटे पद पर भी आसीन व्यक्ति को आज इमानदार नही कह सकते क्योकि उसका चयन करने की जिम्मेदारी हमने स्वयं इन्ही पांचवी पास या छठवी पास माननीयों को दी हुई है। सरकारी नौकरी मे एक चपरासी की भी न्यूनतम शिक्षा योग्यता इंटर पास है और क्लर्क की स्नातक पास परन्तु यह देश का दुर्भाग्य ही है कि देश के संविधान की रक्षा का दायित्व अनपढो को सौपना लोकतंत्र माना जाता है। पढे लिखे वर्ग का उत्तराधिकारी पढने लिखने के बाद ही बनता है एक कम्पीटीशन देना पडता है परन्तु नेताजी को । आज का एक हाई स्कूल पास विधायक जब कानून मंत्री बनता है या स्वास्थ्य मंत्री बनता है या शिक्षा मंत्री बनता है तो उसके अधीन काम करने वाले आई ए एस के दिल पर क्या गुजरती हागी? और जब मात्र जातिगत आरक्षण के आधार पर बने एक अयोग्य या अपात्र अधिकारी के अधीन एक पढा लिखा व्यक्ति कर्लक का या चपरासी का काम करे तो क्या कभी अंदाज लगाया है कि उसके दिल पर क्या गुजरती होगी? सामाजिक न्याय का नियम यही है सबको मौका मिले परन्तु योग्यता क आधार पर । खैर ये तो अब स्वप्न की बात हो गयी। शायद ही कभी भारत मे अब अच्छी सरकार देखने को मिले । मै सदा से ही कहता आया हूॅ कि इन पोलिटिशियन का भी एक एक्जाम होना चाहिये कि इनकी शैक्षणिक योग्यता क्या है इनकी सोच क्या है क्या इनके इरादे है? आखिर ये देश का प्रतिनिधित्व करने जा रहे है तो ये कानून बनाते है? अगर आज मेरठ मे सभी चुनावी अखाडे मे उतरे पोलिटिशियन से भी भारत का राष्ट्रगान सुनने बैठ जाओ तो सच्चाई सामने आ जायेगी? कितना बडा दुर्भाग्य है इस देश का कि इस देश मे अनपढ लोगो के हाथ मे वोट का अधिकार है और अनपढो को विधायक सांसद बनने का पूरा पूरा अवसर भी मिलता है। क्या यही लोकतंत्र है? इसको ही क्या लोकतंत्र कहते है कि अनपढ व्यक्ति देश के लिये एक अनपढ नेता चुने? इन तथाकथित नेताओ ने भारत की शिक्षा प्रणाली को ही तार तार कर दिया और अब अनपढ पढे लिखे का अंतर ही समाप्त करने की योजना है। अब भी समय है कि चेत जाओ बरना भारत फिर गुलाम होगा।

6 प्रश्न– श्री मती रचना दुबलिस नन्दन कुंज मेरठ उत्तर प्रदेश

भारत के प्रथम नागरिक के बेटे की गाडी मे एक करोड रूपये नगद मिलना, भारत के सेना प्रमुख का दो जन्म तिथियो से लाभ लेना, भारत के सर्वोच्च न्याय के न्यायालय मंदिर के एक पूर्व और अभी हाल मे ही सेवा मुक्त मुख्य न्यायधीश पर आय से अधिक संपत्ति का मिलना , देश का प्रतिनिधित्व करने वाले भारत के प्रधानमंत्री को उसकी की ही पार्टी के सदस्यो द्वारा बार बार बूढा कहकर संबोधित करना, संविधान मे संशोधन करने और भारत मे कानून बनाने की योग्यता और पात्रता रखने वाले माननीयों का खुद ही अनपढ या कम शिक्षित होना जिनके पास खुद ही खाने की दो वक्त की रोटी कमाना मुश्किल हो उसके हाथ मे वोटिंग अधिकार होना, उच्च एवं तकनीकी शिक्षा और सरकारी नौकरी मे तेंतीस प्रतिशत से भी कम अंक लाने वाले को नब्बे प्रतिशत अंक लाने वाले उम्मीदवार से ज्यादा महत्व देना, सरकारी कर्मचारियो के यहॉ अकूत दौलत का खजाना मिलना, निर्वाचन आयोग का केन्द्र के कानून मंत्री के सामने आत्म सर्मपण सा करना क्या कभी अजीब सा नही लगता?

उत्तर– हमे सबसे पहले यह तय करना होगा कि क्षमता और नीयत का क्या संबंध होता है। ये दोनो बिल्कुल भिन्न भिन्न होते है जो किसी एक ही व्यक्ति मे भी होना संभव है तथा अलग अलग मे भी । आवश्यकता नहीं कि दोनो एक ही व्यक्ति के पास हो । शिक्षा क्षमता का मापदण्ड है किन्तु नीयत का नही । मतदान नीयत का आकलन है क्षमता का नहीं । एक अपढ व्यक्ति मे पढे लिखे की अपेक्षा क्षमता कम होगी यह निश्चित है किन्तु नीयत अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी । यदि एक बुरी नीयत का व्यक्ति पढा लिखा होगा तो वह अपढ अच्छे की अपेक्षा ज्यादा खतरनाक होगा। आज की सबसे बडी समस्या यह हे कि समाज मे चरित्र गिर रहा है तथा शिक्षा बढ रही है। चरित्र की अपेक्षा शिक्षा का महत्व बढ रहा है।

शिक्षा का चरित्र पर कोई प्रभाव नही पडता क्योकि दोनो भिन्न विषय है । युधिष्ठिर तथा दुर्योधन ने एक ही गुरू से एक समान तथा एक साथ शिक्षा ली थी। दोनो के चरित्र बिल्कुल विपरीत हुए। कबीर दास अशिक्षित थे तथा अम्बेडकर जी उच्च शिक्षित । यदि भारत का प्रधान मंत्री बनाना हो तो कबीर दास को ज्यादा महत्वपूर्ण माना जाय या अम्बेडकर को ? दोनो की दिशाए भिन्न है यह अलग बात हे किन्तु यदि दोनो एक साथ चुनाव लडते तो मै तो कबीर दास को अम्बेडकर जी की अपेक्षा ज्यादा महत्व देता ।

मै जिस क्षेत्र का निवासी हूॅ वहॉ के नब्बे प्रतिशत लोग अशिक्षित , शराबी और गरीब है । ये लोग आम तौर पर विश्वसनीय है, इमानदार है, सत्यवादी है। पढे लिखे लोग चाहे बाहर से आवे या इधर के हो, आमतौर पर इनका शोषण करते है । एक तर्क है कि यदि ये लोग शिक्षित होते तो इनका शोषण नही होता । दूसरा तर्क यह भी है कि यदि इनकी व्यवस्था मे लगे लोग इमानदार होते तो इनका शोषण नही होता। आज तक यह तय नही पाया कि क्षमता वान लोगो को चरित्र वान बनाना हमारी प्राथमिकता हो या चरित्रवानो की क्षमता का विकास करना हमारी प्राथमिकता हो। क्षमता और चरित्र का एक साथ आकलन संभव ही नही। इसलिये लोकतंत्र क्षमता और चरित्र के तालमेल की व्यवस्था है जिसमे क्षमता प्रधान कार्यपालिका तथा चरित्र प्रधान विधायिका का तालमेल आवश्यक है तथा चरित्र को क्षमता से उंचा स्थान दिया गया है । स्वतंत्रता के बाद क्षमता प्राप्त कार्यपालिका ने चरित्र प्रधान विधायिका के लोगो की अशिक्षा का लाभ उठाकर शिक्षा को चरित्र के उपर महत्व दिलवाने मे सफलता पा ली जिसका परिणाम है कि भारत का आम नागरिक शिक्षा को चरित्र के उपर समझने लगा और शिक्षा तथा चरित्र के बीच असंतुलन पैदा हो गया।

स्वतंत्रता के शीघ्र बाद का राजनैतिक चरित्र और साठ वर्ष बाद के राजनैतिक चरित्र के बीच आसमान जमीन का जो अंतर आया है उसमे शिक्षा कहॉ खडी है । निश्चित रूप से शिक्षा का स्तर बहुत तेजी से बढा है । कल्पना करिये कि यदि हम पहले ही सब काम रोक कर शिक्षा का स्तर चार गुना ज्यादा कर दिये होते तो क्या वह राजनैतिक चरित्र आज से अधिक चरित्रवान होता? निश्चित ही नही क्योकि यदि बुरी नीयत का व्यक्ति अधिक शिक्षित होगा तो अपेक्षा कृत अधिक खतरनाक होगा। इस आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहिये कि शिक्षा और आचरण मे से किसी एक को छोडकर एक को महत्व देना अच्छी बात नही, जैसी की आपकी राय है। लोक द्वारा मतदान मे चरित्र या आचरण की प्रामाणिकता के बीच कोई भी बाधा ठीक नही। यदि लोक किसी पागल को अपना प्रतिनिधि माने तो लोक के उपर कोई कानून लाभ कम और हानि अधिक करेंगा।

आपका यह तर्क बिल्कुल बेतुका है कि अपढ लोग पढे लिखे पर शासन कर रहे है। लोकतंत्र मे कोई किसी पर शासन नही करता बल्कि लोकतंत्र मे विधायिका और कार्यपालिका एक दूसरे के पूरक भी होते है और नियंत्रक भी । चूंकि सिद्धान्त रूप मे विधायिका के लोग चरित्र मे अधिक और क्षमता मे कमजोर माने जाते है इसलिये चरित्र को क्षमता के थोडा उपर माना गया। आपने लोकतंत्र के मूल ढाचे को नही समझा इसीलिये आपने यह बात उठाई । ऐसी बात कहने वाले आप अकेले नही है। आम लोगो मे यह बात घर कर गई है। इस बात को दूर करना आवश्यक है कि चरित्र को किनारे करके लोक तंत्र नही चल सकता । आई ए एस उच्च क्षमता वान होते है । यदि हम इस लावी को ही विधायिका के सारे अधिकार दे दे तो क्या शोषण अत्याचार रूक जायगा? बिल्कुल नही। जब तक चरित्र और क्षमता का संतुलन नही होगा । तक तक खतरा ही खतरा है । स्वतंत्रता के बाद यह संतुलन क्षमता विस्तार की दिशा मे झुकता गया । भौतिक विकास की भूख और ज्यादा बढती गई और नैतिक पतन की चिन्ता होनी ही बन्द हो गई । मेरा आपसे निवेदन है कि आप सब पाठक इस विषय पर कुछ लिखे तो चर्चा आगे बढेगी।

मेरे कहने का यह आशय नहीं कि शिक्षा महत्वहीन है। मै भी मानता हूॅ कि यदि चरित्र के साथ शिक्षा भी जुड जावे तो सोने पर सुहागा है किन्तु मै यह मानने को तैयार नही कि शिक्षा ही सब कुछ है और चरित्र की अन्देखी करके भी शिक्षा को महत्व दिया जाय। अनेक लोग तो ऐसा भी कहते मिल जायगे कि अच्छी शिक्षा के अभाव मे चरित्र पतन हो रहा है। ये लोग यह भी नही जानते कि शिक्षा से चरित्र कभी नही बनता चाहे शिक्षा कितनी भी अच्छी क्यो न हो। चरित्र पर तो तीन बातो का प्रभाव पडता है। एक जन्म पूर्व का संस्कार दूसरा पारिवारिक वातावरण तीसरा सामाजिक परिवेष। इसमे शिक्षा का कोई स्थान नही होता। ऐसी सलाह देने वाले लाग आज तक कभी नही बता पाये कि अच्छी शिक्षा क्या होती है। वर्तमान समय मे जो हो रहा है वह तो बिल्कुल ही गलत है । अपराध नियंत्रण पर कुल राष्ट्रीय बजट का एक प्रतिशत और उस बजट का भी नब्बे प्रतिशत अनावश्यक कार्यो पर। दूसरी ओर शिक्षा पर छ प्रतिशत और उसे बढाते जाने की मांग। मेरा आरोप है कि चरित्र की गिरावट से लाभ उठा कर आगे बढ रहे लोग इस असंतुलन के दोषी है और आप हम सरीखे लोग इनके प्रचार के शिकार हो जाते है। आप फिर से विचार करे।

7.प्रश्न–उदित राज जी–नेता नहीं मतदाता सुधरें

एक दशक पूर्व तो यह सोचा जा सकता था कि साफ–सुथरी राजनीति करने का नियंत्रण नेताओं के पास था, लेकिन अब ऐसा रह नहीं गया है। यह सह है कि भ्रष्टाचार उपर से नीचे आया और धीरे–धीरे इसमें जनता भी शामिल हो गयी। साधना भाव एवं सामंती समाज में राजनीति एवं नौकरशाही इसलिए आकर्षक है कि यहां धन के अलावा सत्ता दोनों की प्राप्ति हो जाती है। कृषि, कला, व्यापार, शिक्षा एवं अन्य क्षेत्रों में ये दोनों आसानी से नहीं मिलते। यही कारण है कि राजनीति आकर्षक है। किसी भी तरह से चुनाव जीतना एवं सत्ता में आने की होड़ बनी रहती है, चाहे जो भी साधन अपनाना पड़े। अब कोई साफ–सुथरे ढंग से राजनीति करना चाहे भी तो वह हासिए पर फेंक दिया जाता है। विशेषरूप से चुनावी राजनीति में तो यह हो ही गया है कि बिना शराब, पैसे, लोभ–लालच, जातीय एवं धार्मिक समीकरण आदि के इस वैतरणी को पार करना मुश्किल है।

ईमानदार की सराहना जनता तो करती है लेकिन वोट नहीं देती। जंतर–मंतर पर जब अन्ना हजारे ने अनशन समाप्त किया तो कहा कि अगर वे चुनाव में खड़े होंगे तो उनकी जमानत जब्त हो जाएगी। बिल्कुल सही ही कहा था। इस समय उ.प्र., उत्तराखंड, हिमाचल प्रदेश, पंजाब व मणिपुर में चुनाव हो रहे हैं। फिर से बहस तेज हो गयी है कि हमाम में सारे दल नंगे हैं। नेताओं का कोई दीन–ईमान नहीं है। आम जनता ज्यादातर नेताओं को भ्रष्ट, अवसरवादी, जातिवादी एवं साम्प्रदायिक ही मानती है। मजे की बात है कि वह अपने गिरेबान में झांककर नहीं देख रही है कि यदि कोई सीधा–सादा, ईमानदार एवं जनसेवक उसके बीच है तो क्या उसे समर्थन देती है? हो सकता है कि सराहना करें लेकिन यह कहते हुए नकार देते हैं कि इसका बेस वोट नहीं है अर्थात् उसकी जाति का वोट नहीं है। इसके अतिरिक्त पैसे एवं लोभ–लालच के बल पर कार्यकर्ताओं की भीड़ का अभाव और मीडिया का समर्थन न होना आदि भी ऐसे लोगों को कमजोर करता है। ऐसी भी बात नहीं है कि ईमानदार, वैचारिक एवं विकासोन्मुख लोग चुनाव में न खड़े हो रहे हों, लेकिन उपरोक्त मानसिकता की वजह से इन्हें वोट नहीं मिलता और उल्टा उपहास भी होती है। शहर का मध्यम वर्ग काफी हद तक ग्रामीण क्षेत्र की वास्तविकता से अनभिज्ञ हैं। प्रति वोट एक हजार तक में खरीदे जा रहे हैं। करोड़ों रुपये इस बावत खर्च करने के लिए ले जाए जा रहे थे और चुनाव आयोग ने उसको पकड़ा भी है। उसमें आक्रोश तो बहुत है कि जनता जातिवादी, बाहुबली, साम्प्रदायिक, अर्द्धशिक्षित लोगों को वोट क्यों देती है? लेकिन क्या वे अपने गिरेबान में झांककर देखते भी हैं? सबसे कम वोट देने वाले यही होते हैं। अवसर मिले तो आर्थिक चोरी में पीछे नहीं रहते। विशेषरूप से अधिकतर व्यापारी जब भी उसे अवसर मिलता है तो आयकर, सीमा शुल्क, बिजली, मूल्य बर्धन कर आदि की हेराफेरी करने से बिल्कुल नहीं चूकता। इन्हीं के कालेधन से देश की राजनीति भी चल रही है। चुनाव आयोग की थोड़ी सी सक्रियता के कारण जगह– जगह पर कालाधन पकड़ा जा रहा है। यदि जनता इस धन का उपभोग शराब, वोट बेचने या और तरह के लाभ लेने से मना कर दे तो क्या मजाल है कि चुनावी राजनीति में अच्छे लोग न सफल हों। आजादी से लेकर 80 के दशक तक भ्रष्टाचार उपर से नीचे आया। जब अब नीचे आ गया है तो उपर से अगर कोई साफ–सफाई करना चाहे तो संभव है कि उसी का सफाया हो जाए। इस वीभत्स समस्या का समाधान अब आसान नहीं रह गया है। बाजी अब जनता के हाथ में है। कुछ लोग आदर्श की वह स्थिति पाने की सोचते हैं कि सारे दल मिलकर फैसला करें कि अपराधी या गलत लोगों को टिकट न दिया जाए या राजनीति में उनका प्रवेश रोका जाए, वह भी संभव नहीं है, क्योंकि इस प्रतियोगिता में येन–केन–प्रकारेण सभी सत्ता के गलियारे में पहुंचना चाहते हैं। जब दल और उसके नेता इस काम को नहीं कर सकते हैं तो एक ही विकल्प बचा रह गया कि बड़े स्तर पर जन आन्दोलन चलाया जाए ताकि कोई नई दिशा मिले। समाज में जब जाति है तो राजनीति में जाएगी ही। टीम अन्ना से भी मैंने कहा था कि उसका आंदोलन पूर्ण सफल नहीं होगा जब तक कि देश के सामाजिक संरचना ही सही समझ नहीं है और वह बात अब सही हो रही है। दस साल पहले जब मैं कहा करता था कि जनता भी भ्रष्ट और लोभी हो गयी है तो शहरी बुद्धिजीवी और विशेषतौर से वामपंथी इस विचार से बिल्कुल सहमत नहीं हुआ करते थे लेकिन अब वे भी समझने लगे हैं। जन लोकपाल बिल में उद्योगपतियों के द्वारा किए गए भ्रष्टाचार के खिलाफ बात को नहीं शामिल किया ह। उद्योग जगत के भ्रष्टाचार को जब तक नहीं रोका जाता तब तक राजनीति और नौकरशाही के क्षेत्र में नियंत्रण पाना मुश्किल है। वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था से आम जनता निराश है। दर्द जिसे है दवा उसी को लेना पड़ेगा। जिस व्यवस्था से राजनेताओं को लाभ है, वे क्यों चाहेंगे कि उसमें बदलाव हो।

उत्तर– आपने परिस्थितियो का ठीक से आकलन करने के बाद भी निष्कर्ष उलटा निकाल लिया। राजनेताओ के चरित्र पतन के परिणाम स्वरूप धीरे धीरे नीचे समाज का चरित्र पतन हुआ । यदि मतदाता सुधर भी जाय तो राजनेता कैसे सुधर जायगा। क्योकि पूर्व मे तो राजनेताओ ने ही बिगडने की शुरूआत की है। अब तो हमारे पास दो ही मार्ग दिखते है कि या तो राजनेता सुधर जाय या उनके अधिकार इतने कम कर दिये जाये कि उनको बिगडने के अवसर ही न मिले । अधिकतम निजी करण कर दिया जाय तथा नेताओ का समाज मे हस्तक्षेप कम से कम कर दिया जाय तब नेता पहले सुधर जायेगे और तब उसका समाज पर प्रभाव पडना शुरू होगा। मरीज अगर सुधर जाय तो डाक्टर की धूर्तता कम हो जायगी। यह तर्क गलत है आपकी बात से ऐसा प्रतीत होता है कि आप स्वयं भी नेता होने के कारण नेताओ का पक्ष ले रहे है तथा मतदाता को ही गलत बताने का प्रयास कर रहे है। मै आपसे सहमत नही ।